भारतीय लोकतंत्र कि अवधारणा और सांस्कृतिक, आर्थिक विशिष्टता

डॉ. अनामिका
राजनीति विज्ञान विभाग
बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

सार–संक्षेप :

भारत–विश्व में विशालतम और सर्वाधिक विविधतापूर्ण लोकतंत्र हैं जैसा कि यह उपनिवेशवाद की समाप्ति के समय था। भारत में लगभग उन सभी संघटकों की कमी रही जो एक उदारवादी लोकतंत्र को सफल बनाते हैं। लोकतंत्र निर्माण के मार्ग में अन्य बाधा सदियों पुरानी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के रूप में थी जिसे 'लगभग जान बूझकर राजनीतिक समानता का विरोध करने के लिए' रूपांकित किया गया था। भारतीय लोकतंत्र के उत्तरजीविता और अनूठे स्थायित्व की व्याख्या हम किस प्रकार कर सकते हैं? क्या यह बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा राष्ट्रीय नेतृत्व को दी गई 'लोकतांत्रिक संस्थागत राजनीति के सीमित प्रतिपादन के कारण है? अथवा क्या यह हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों जैसे बहुवाद, सामजंस्य, सहिष्णुता, अन्तर्वेशन तथा समायोजन के आधुनिक राजनीतिक संस्कृति में रूपान्तरण के कारण है जैसा स्वतंत्र भारत के शुरुआत' वर्षों में महसूस किया गया था? वर्तमान युग की बाज़ार अर्थव्यवस्था और राजनीतिक लोकतंत्र के उत्थान से विशिष्ट पहचान होती है। इनके लिए गुणवत्ता और आवश्यकता दोनों महत्त्वपूर्ण हैं भले ही यह पूर्वी यूरोपियन साम्यवादियों के बाद का समाज हो अथवा उपनिवेश काल के बाद का एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी समाज हो। इसे साम्प्रदायवाद/ समाजवाद की समाप्ति के संदर्भ में समझाया जा सकता है सामाजिक विज्ञान में आर्थिक–विकास और राजनीतिक लोकतंत्र दोनों प्रकरणों पर फैलाव और गहनता दोनों के संदर्भ में उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश वे राजनीति और अर्थशास्त्र के दो विभिन्न विश्वों में बंटा हुआ है जिनकी आपसी अर्न्तक्रिया बहुत रूप है। आवश्यकता इस बात की है कि लोकतंत्र के स्वरूप को इस प्रकार सिद्धान्त रूप दिया जाए कि आर्थिक विकास की अन्तर्ग्रस्त प्रक्रिया को राजनीतिक लोकतंत्र के व्यापक अर्थ में समझा जा सके।

कुंजी : – लोकतंत्र, राजनीतिक संस्कृति, आर्थिक, सहिष्णुता, विविधता ।

परिचय :

भारतीय राजनीति के अधिकांश पुराने विश्वास 'बदलते हुए' भारत में धीरे–धीरे समाप्त हो रहे हैं फिर भी 'लोकतंत्र का विचार' ऐसा है जो मात्र जीवित और टिकाऊ नहीं अपितु इसे शक्तिशाली निरन्तरता प्रदान करता है। भारत–विश्व में विशालतम और सर्वाधिक विविधतापूर्ण लोकतंत्र के बारे में बात करते हैं जैसा कि यह उपनिवेशवाद की समाप्ति के समय था। भारत में लगभग उन सभी संघटकों की कमी रही जो एक उदारवादी लोकतंत्र को सफल बनाते हैं। लोकतंत्र निर्माण के मार्ग में अन्य बाधा सदियों पुरानी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के रूप में थी जिसे 'लगभग जान बूझकर राजनीतिक समानता का विरोध करने के लिए' रूपांकित किया गया था। भारतीय लोकतंत्र के उत्तरजीविता और अनूठे स्थायित्व की व्याख्या हम किस प्रकार कर सकते हैं? क्या यह बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों द्वारा राष्ट्रीय नेतृत्व को दी गई 'लोकतांत्रिक संस्थागत राजनीति के सीमित प्रतिपादन के कारण है? अथवा क्या यह हमारे परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों जैसे बहुवाद, सामजंस्य, सहिष्णुता, अन्तर्वेशन तथा समायोजन के आधुनिक राजनीतिक संस्कृति में रूपान्तरण के कारण है जैसा स्वतंत्र भारत के शुरुआत' वर्षों में महसूस किया गया था?

एक महत्त्वपूर्ण तौर पर भारत में लोकतंत्र उपनिवेशी भाषा के रूप में पूर्वकल्पित था जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने प्रतिनिधिक विधायी निकायों को लागू किया था हालांकि 1909ए 1919 और 1935 के अधिनियमों के अनुसार इनकी शक्तियाँ सीमित थीं। यद्यपि मतदान अधिकार की मंजूरी स्वरूप से सीमित थी तदपि मतदाताओं की चार करोड़ की विशुद्ध संख्या उस समय ग़ैर–साम्यवादी विश्व में दूसरे स्थान पर विशालतम थी। वे समूह जिन्हें राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया गया था धार्मिक समुदायों के रूप में पहचान वाले थे जिनके अपने अपरिवर्तनीय हित और सामूहिक अधिकार थे। पूर्व कल्पना को उपनिवेश विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में भी लिया गया जिसमें एक पहचान योग्य तथा संयुक्त भारतीय राजनीतिक पहचान बनाने का प्रयास किया गया जिससे विश्व की विविध व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र के सृजन का मार्ग प्रशस्त हो जाए। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रेरित स्वतंत्र भारत के राजनीतिक नेतृत्व ने भारत की विशाल विविधता की पहचान और समायोजन के लिए राष्ट्र–राज्य उत्तरदायित्व पर जोर दिया। सहिष्णुता, बहुवाद और अन्तर्वेशन मूल्यों को सक्रियता से बढ़ावा दिया गया और ये राष्ट्र निर्माण और राज्य निर्माण परियोजनाओं के मूलभूत सिद्धान्त बन गए जिन्हें एक मत से प्रस्ताव में पारित किया गया। भारतीय लोकतंत्र का अपने क्रियाविधिक रूप में बहुवादी स्वरूप संघवाद, तीन भाषा नीति, भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, सीमांतक समूहों के पक्ष में स्वीकारात्मक कार्रवाई तथा एक समान नागरिक संहिता लागू करने से बचे रहने का निर्णय, नागरिक और सार्वभौमिक मानदण्डों द्वारा परिभाषित धर्म निर्पेक्ष नागरिकता के रूप में सुस्पष्ट रहा है। सभी मानदंड महत्त्वपूर्ण संवैधानिक उपायों, विधायी विनियमन तथा सरकारी नीतियों में से हैं जो चार विशिष्ट वर्गों क्षेत्र, भाषा, धर्म और जाति की संवैधानिक/विधिक मान्यता के सूचक हैं। अधिनियमों के अनुसार

इनकी शक्तियाँ सीमित थीं। यद्यपि मतदान अधिकार की मंजूरी स्वरूप से सीमित थी तदपि मतदाताओं की चार करोड़ की विशुद्ध संख्या उस समय ग़ैर–साम्यवादी विश्व में दूसरे स्थान पर विशालतम थी। वे समूह जिन्हें राजनीतिक प्रतिनिधित्व दिया गया था धार्मिक समुदायों के रूप में पहचान वाले थे जिनके अपने अपरिवर्तनीय हित और सामूहिक अधिकार थे। पूर्व कल्पना को उपनिवेश विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में भी लिया गया जिसमें एक पहचान योग्य तथा संयुक्त भारतीय राजनीतिक पहचान बनाने का प्रयास किया गया जिससे विश्व की विविध व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र के सृजन का मार्ग प्रशस्त हो जाए। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रेरित स्वतंत्र भारत के राजनीतिक नेतृत्व ने भारत की विशाल विविधता की पहचान और समायोजन के लिए राष्ट्र–राज्य उत्तरदायित्व पर जोर दिया। सहिष्णुता, बहुवाद और अन्तर्वेशन मूल्यों को सक्रियता से बढ़ावा दिया गया और ये राष्ट्र निर्माण और राज्य निर्माण परियोजनाओं के मूलभूत सिद्धान्त बन गए जिन्हें एक मत से प्रस्ताव में पारित किया गया। भारतीय लोकतंत्र का अपने क्रियाविधिक रूप में बहुवादी स्वरूप संघवाद, तीन भाषा नीति, भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, सीमांतक समूहों के पक्ष में स्वीकारात्मक कार्रवाई तथा एक समान नागरिक संहिता लागू करने से बचे रहने का निर्णय, नागरिक और सार्वभौमिक मानदण्डों द्वारा परिभाषित धर्म निर्पेक्ष नागरिकता के रूप में सुस्पष्ट रहा है। सभी मानदंड महत्त्वपूर्ण संवेधानिक उपायों, विधायी विनियमन तथा सरकारी नीतियों में से हैं जो चार विशिष्ट वर्गों क्षेत्र, भाषा, धर्म और जाति की संवैधानिक/विधिक मान्यता के सूचक हैं। भले ही उपरोक्त दो या दो से अधिक कारण हैं जो भारत में लोकतन्त्र की स्थिति–स्थापन की व्याख्या करते हैं यद्यपि यह एक अटल तथ्य है कि भारत में लोकतंत्र की जड़ें गहरे तक बैठी हुई हैं। भारत में सांसदों, अदालतों, अधिकारों और स्वतंत्र मीडिया का अस्तित्व बना हुआ है। सुनील खिलनानी के शब्दों में, समान लोगों के समुदाय की इच्छा के अनुसार इतिहास रचने के विचार अथवा विमोहक और पहेलीमय वचनबद्धता के रूप में लोकतंत्र भारतीय राजनीतिक कल्पना में अनुत्क्रमणीय रूप से प्रवेश कर चुका है।

तथापि, भारतीय लोकतंत्र के महानतम सूचक का अस्तित्व राजनीतिक चर्चा के लिए स्थान तथा विभिन्न समूहों द्वारा किए गए विभिन्न क्षेत्रों की पुष्टि के लिए अवसरों का सृजन मुहैया कराने में है। इस प्रक्रिया में भारत में परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के प्राधिकार का संक्षरण होना शुरू हो गया है।

लोकतंत्र की समझ

राजनीतिक सिद्धान्त में लोकतंत्र से हम क्या समझते हैं? लोकतंत्र दिनोंदिन अच्छे शासन के उस रूप में लिया जा रहा है जो एक राज्यतंत्र के रूप में संगठित व्यष्टियों के समूह के मध्य निर्णय लेने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। लोकतंत्र का आवश्यक मूल्य उन निर्णयों जो प्रत्येक नागरिक के हितों को ध्यान में रखते हैं तथा सभी के ऊपर समक्ष रूप से बाध्यकारी होते हैं को लेने के लिए अन्य तरीकों पर नैतिक श्रेष्ठता में सन्निहित है। मूल सिद्धान्त जो इस अर्थ में लोकतंत्र की नींव रखते हैं और उसे न्यायसंगत ठहराते हैं, दुहरे होते हैं। प्रथम, व्यष्टि स्वतन्त्र युक्तियुक्त प्राणी हैं जिनमें यह निर्णय करने की क्षमता होती है कि उनके लिए क्या अच्छा है। दूसरे, सभी व्यष्टियों के सामूहिक निर्णयों जो सबको समान रूप से प्रभावित करते हैं, के अवधारणा में समान प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह तर्क दिया जाता है कि जबûसामूहिक तौर पर सार्वजनिक रूप से सहमत निर्णय को लेने के लिए प्रयास किया जाता है वहाँ उस निर्णय/स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आमतौर पर एकमत होना असंभव है। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से सहमत निर्णय को लेने के लिए सर्वाधिक प्रशंसनीय क्रियाविधि बहुमत के शासन का सिद्धान्त है जो सर्वाधिक व्यावहारिक तथा नैतिक रूप से स्वीकार्य है। विशाल और जटिल समाजों के कारण प्रत्येक मुद्दे पर प्रगति थी। पूँजीवादी प्रजातंत्रों में भी निर्णय लेने के लिए एक साथ इकट्ठा होना संभव नहीं है जैसा कि सी.बी. मैकर्सन ने लोकतंत्र के सहभागिता प्रतिदर्श को समझाते समय कल्पना की थी।

इसीलिए आधुनिक प्रजातंत्र एक निश्चित क्रियाविधि तथा प्रतिनिधिक संस्थानों के माध्यम से कार्य करता है जिससे लोग अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कर सकें और उन्हें समय–समय पर उत्तरदायी ठहरा सकें। यदि हम लोकतंत्र को विशुद्ध रूप से संस्थानों के एक ऐसे सैट के रूप में देखते हैं जो स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों, विधायी सभाओं, सामान्य विधिक संरचना तथा संवैधानिक सरकारों को परिवेष्ठित करते हैं, तब हम अवश्यमेव लोकतंत्र के क्रियाविधिक स्वरूप का विशेषाधिकार प्राप्त कर रहे हैं। तथापि, यदि हमारे पास ऐसे सच्चे समान नागरिकों द्वारा आबाद किए जाने वाले लोकतंत्र का विचार है जो राजनीतिक रूप से वयस्क है, जीवन के विभिन्न मतों और तरीकों के प्रति सहिष्णु है और अपने शासकों को चुनाव करने और उन्हें उत्तरदायी ठहराने में समान आवाज वाले हैं तब हम लोकतंत्र की यथार्थ धारणा का विशेषाधिकार प्राप्त कर रहे हैं। उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत में, लोकतंत्र के ये दो विरोधाभासी प्रतिदर्श क्रमशः क्रियाविधिक और यथार्थ लोकतंत्र के रूप में माने जाते हैं। इसके अनुसार, लोकतंत्र के सीमित प्रक्रियावादी दृष्टिकोण में मत सहभागिता का स्तर, चुनावों की आवृत्ति तथा राजनीतिक सत्ता में शान्तिपूर्ण परिवर्तन लोकतंत्र की सेहत के सूचकांक के रूप में लिए जाते हैं। तथापि, इस प्रकार के दृष्टिकोण को निर्वाचन की भ्रांति का खतरा बना रहता है क्योंकि सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ जिनमें प्रजातांत्रिक–सांस्कृतिक समुदाय अल्पसंख्यकों और बच्चों सहित अन्तर्ग्रस्त हैं उनके लिए प्रभावी रूप से भाग लेने को मुश्किल बना देती हैं क्योंकि इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य में उन्हें व्यापक रूप से अनदेखा कर दिया जाता है। दूसरी तरफ, लोकतंत्र के यथार्थ स्वरूप के समर्थक तर्क देते हैं कि लोकतांत्रिक परियोजना उस समय तक अपूर्ण है जब तक नागरिकता

के समान अधिकारों का कोई अर्थपूर्ण प्रयास सभी को अभिनिश्चित न कर दिया जाए। इस समय में, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विधिगत शासन तथा सभी को इसका संरक्षण आवश्यक है परन्तु किसी भी उपाय से लोकतंत्र के लिए पर्याप्त शर्तें अर्थपूर्ण नहीं है। लोकतंत्र की परियोजना मात्र विधिगत और राजनीतिक समानता प्राप्त करने से सम्पन्न नहीं हो जाती अपितु असमानताओं द्वारा इस पर कठोर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं जिससे कइयों को शासकीय निर्णयों (लोकतंत्रीकरण का सामाजिक एजेंडा) को प्रभावित करने के लिए यथार्थतः समान अवसर नहीं मिल पाते हैं। असामाजिक औद्योगिक सूचना समाजों से पूर्व सरकारी नीति और लोकमत के ऊपर लोक नीति विशेषज्ञों के बढ़ते प्रभाव का प्रतीक, विशिष्ट ज्ञान का संकेन्द्रन एक अन्य सीमांकन हैं। विशेषज्ञों ने आर्थिक नीति निर्माण को लोकतांत्रिक दबाव से अवरुद्ध कर दिया है।

लोकतंत्र और विकास

भूमंडलीकरण के वर्तमान युग की बाज़ार अर्थव्यवस्था और राजनीतिक लोकतंत्र के उत्थान से विशिष्ट पहचान होती है। इनके लिए गुणवत्ता और आवश्यकता दोनों महत्त्वपूर्ण हैं भले ही यह पूर्वी यूरोपियन साम्यवादियों के बाद का समाज हो अथवा उपनिवेश काल के बाद का एशियाई, अफ्रीकी तथा लैटिन अमेरिकी समाज हो। इसे साम्प्रदायवाद/समाजवाद की समाप्ति के संदर्भ में समझाया जा सकता है कि जिसने बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं में राज्य के अत्यधिक अथवा अनुचित हस्तक्षेप के रूप में विकास नियोजन पर आधारित अर्थव्यवस्थाओं को प्रेरित किया। सामाजिक विज्ञान में आर्थिक–विकास और राजनीतिक लोकतंत्र दोनों प्रकरणों पर फैलाव और गहनता दोनों के संदर्भ में उपलब्ध है। दुर्भाग्यवश वे राजनीति और अर्थशास्त्र के दो विभिन्न विश्वों में बंटा हुआ है जिनकी आपसी अर्न्तक्रिया बहुत रूप है। आवश्यकता इस बात की है कि लोकतंत्र के स्वरूप को इस प्रकार सिद्धान्त रूप दिया जाए कि आर्थिक विकास की अन्तर्ग्रस्त प्रक्रिया को राजनीतिक लोकतंत्र के व्यापक अर्थ में समझा जा सके। राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्तवादी जैसे दीपक नय्यर ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि बाज़ारिक अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र की राजनीति के बीच हमेशा ही एक सहज तनाव बना रहता है इसे लोकतंत्र के अभ्यावर्तक स्वरूप के विरुद्ध बाज़ार के अपवर्जक स्वरूप के संदर्भ में समझा जा सकता है। यह कि बहुमतवादी लोकतंत्र की धारणा राजतंत्र अथवा अल्पतंत्र के लिए श्रेयस्कर है, पर इस आधार पर प्रश्न चिह्न लगा दिया गया है कि इससे बहुमत की निरंकुशता बढ़ती है। इसी के साथ यह तर्क कि बाज़ार व्यक्तियों और एक छोटे से वर्ग के हितों की रक्षा करता है सीमित है। यह तर्क दिया गया है कि बाज़ार वस्तुतः अल्पसंख्यकों की निरंकुशता है। अब बाज़ार में लोग अपने पैसे से मत डालते हैं जबकि राजनीतिक लोकतंत्र में प्रत्येक का मत बराबर होता है। इस प्रकार दो संस्थाओं के बीच एक अन्तर्निहित तनाव हमेशा कायम रहता है। तब क्या हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र और बाज़ार का संयोजन जनसमुदाय के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त अथवा कहिए आवश्यक है। पूर्वी यूरोप जहाँ तक कि दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में भी भूतपूर्व साम्यवादी राज्यों में जहाँ राजनीतिक लोकतंत्र रहित बाज़ारिक अर्थव्यवस्था थीं राजनीतिक लोकतंत्र के बिना नियोजित अर्थशास्त्र में समतावाद विकास के बारे में क्या कहना है? और तब साम्यवादियों के बाद के देशों में जहाँ हमारे पास बाजारिक अर्थव्यवस्था और राजनीतिक लोकतंत्र है, हमारे पास अभी तक बहुमत के लिए बहुत कम और दयनीय स्थिति के लिए समृद्धि का प्रमाण है। हमें समझना चाहिए कि बाज़ार उपभोक्ताओं के रूप में उन लोगों के बहिष्कार के लिए प्रवृत्त रहते हैं जिनके पास कोई आय अथवा पर्याप्त आय नहीं है। बाज़ार उत्पादकों और विक्रेताओं के रूप में उन लोगों का भी बहिष्कार करते हैं जिनके पास न तो परिसम्पत्तियाँ हैं और न ही बाज़ार में मूल्य और मांग को नियंत्रित करने के लिए क्षमताएँ हैं। और बाज़ार उस समय उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों का बहिष्कार करते हैं यदि वे बाज़ार व्यवस्था अर्थात प्रजातीय समुदायों अथवा जंगली लोगों के मूल्यों को स्वीकार नहीं करते हैं अथवा उनके अनुरूप कार्य नहीं करते हैं। आर्थिक बहिष्कार आगे सामाजिक और राजनीतिक बहिष्कार पर स्वराघात करता है। इसीलिए निम्न वर्ग त्रस्त होगे यदि अर्थव्यवस्थाओं का बाज़ारीकरण होता है क्योंकि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों से राज्य की वापसी का अर्थ होगा अलाभकारी स्थिति वाले लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा में कमी। तथापि, हकदारी, परिसम्तियों अथवा क्षमताओं से वंचित लोगों के पास अपने अधिकारों का दावा करने के लिए संसाधन अथवा शक्ति नहीं होंगे। इस प्रकार इस भाग के तर्क का समापन करने के लिए हम नीरज गोपाल जयाल के साथ सहमत हो सकते हैं कि निर्दयी चुम्पेटेरियाई राजनीतिक विश्व में एक तरफ सामान्य आदमी और औरत की जीविका और उमंगों के बीच लगभग पूर्णरूपेण अव्यस्तता है तो दूसरी तरफ लाभकारी स्थिति वाले लोगों की अभिरुचियों के चारों ओर प्रायः चक्कर काट रहे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्दों का संसार। इसके अनुसार बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं और समाजों के बीच आर्थिक गुटबंदी अनिवार्य है जो उन तरीकों के माध्यम से जो कुछ को शामिल करते हैं तथा अन्य का बहिष्कार, आर्थिक विकास के लाभों के वितरण में कुछ को योजनाबद्ध तरीके से एकीकृत करते हैं तथा अन्य को सीमांतक कर देते हैं ऐसी स्थिति में संस्थागत प्रबन्धन जो एक तरफ आर्थिक विकास तथा दूसरी तरफ सामाजिक विकास के बीच मध्यस्थता करते हैं निर्णायक हो जाते हैं। अन्यथा आर्थिक विकास से क्षेत्रीय विषमता और वर्ग असमानता पैदा होगी।

उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में लोकतंत्र और विकास

उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में लोकतंत्र अपनी ऐतिहासिक विशिष्टताओं के कारण अपने पाश्चात्य प्रतिद्वन्द्वियों से अलग रहा है। उपनिवेशवाद ने जैसा कि राल्फ मिलीबैंड ने 'मार्क्सवाद और राजनीति' में तर्क दिया है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचनाओं को विकृत किया तथा उनको अनूठा बना दिया। इसके अनुसार प्रगतिशील पूँजीवादी समाजों के लिए विकसित सैद्धान्तिक उपस्कर सामान्यता इन विभिन्न समाजों के लिए पक्षान्तरित नहीं किए जा सकते हैं जो नए

लोकतंत्र में सम्मिलित लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर जारी बहस में स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बहसें हैं: लोकतंत्र और विकास, लोकतंत्र और विविधता, तथा लोकतंत्र, राज्य और असैनिक समाज पर की गई बहसें। इस प्रकार यह बहस चलती रही है कि क्या लोकतंत्र और विकास उपनिवेश काल के बाद के राज्यों में सहवर्त्तनीय है। इस प्रकार पूर्वी एशियाई राज्यों में महसूस किए गए आर्थिक 'चमत्कार' ने उनके 'सहज प्राधिकारवाले क्षेत्रों में योगदान दिया है। तथ्य यह है कि उपनिवेशकाल के बाद के समाज बहुसांस्कृतिक हैं तथा जातीय और प्रजातीय संघर्षों में विदीर्ण होते रहते हैं। अंतः स्थापित विभेदनकारी परम्पराओं से उद्‌भूत विविधता और असमानता की पहचान के लिए आवश्यकता के प्रति गंभीर अवरोध व्यक्त किए गए हैं। लोकतंत्र, राज्य और असैनिक समाज के बीच सम्बन्ध के लिए यह बहस होती रही है कि क्या उपनिवेशकाल के बाद के समाजों में प्रभावी राज्य के बिना लोकतंत्र अथवा बाज़ार का अस्तित्व हो सकता है। नागरिक अधिकारों का प्रभावी प्रयोग और लोकतंत्र का सामाजिक पहलू पढ़े।

भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास

आजादी के प्रथम वर्ष में आर्थिक विकास की रणनीति को सामंजस्य का रूप दिया गया। नेहरू की भारत में दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य था। कांग्रेस ने 1944 की बम्बई योजना तथा 1948 में नई औद्योगिक नीति संकल्प के रूप में प्रभावी तौर पर रोजगार समाजवाद के अनुष्ठान–निर्देश के तहत गरीब जनता को समायोजित किया। इस 'नेहरू–महलनवीस रणनीति' के तहत भारतीय राज्य को अवस्थापना तथा विशाल और भारी औद्योगिक निवेश के प्रावधान के लिए उत्तरदायित्व लेना था। लोकतंत्र भारत में न तो निरपेक्षवाद राज्य की प्रतिक्रिया में और न ही समाज की व्यष्टिगत धारणा की यथार्थता के रूप में, प्रस्तुत हुआ। इसने पूँजीवादी उद्योगीकरण और विकास का अनुसरण भी नहीं किया। इस प्रकार विश्व के प्रगतिशील पूँजीवादी उदारवादी समाजों में अनुभव का विरोधाभास था। उपनिवेश विरोधी संघर्ष व्यष्टिगत स्वतंत्रता की बजाए राष्ट्र हेतु स्वायत्त स्थान की माँग पर अधिक आधारित था। एक न्यायप्रिय राज्य की गान्धीवादी धारणा इस विचार पर आधारित थी कि सामूहिक हित को व्यष्टिगत हितों के ऊपर वरीयता दी जानी चाहिए। राष्ट्रवादी नेतृत्व ने अपने सभी नागरिकों के लिए न्याय, आजादी, समानता और भाईचारा सुनिश्चित करने के लिए विशेषाधिकार वाले लोकतांत्रिक गणतंत्र को मूर्त्तरूप दिया था। इस प्रकार सार्वजनिक मताधिकार उस वर्चस्व प्राप्त समतावादी समाज में एक ही बार में संस्वीकृत कर दिया गया था जहाँ लोकतांत्रिक जागृति नहीं थी। उपरोक्त स्थिति में राज्य को राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक लोकतंत्र के बीच एक मध्यस्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी थी। इस प्रकार यदि बाज़ार के तर्क का तात्पर्य जनता के एक महत्त्वपूर्ण अनुपात, विशेषतया गरीब वर्ग के बहिष्कार से था तब राज्य के लिए इस प्रकार के लोगों को आर्थिक दायरे में लाना सुनिश्चित करना आवश्यक था। चूँकि विगत उपनिवेशवादियों और वर्तमान राष्ट्रवादियों ने आर्थिक विकास की रणनीति को आकृति प्रदान की थी, विकास से संतुष्ट न होने की स्थिति में अधिक स्वायत्त विकास को प्राप्त करने के लिए विश्व आर्थिक व्यवस्था के साथ खुलेपन और एकीकृत होने की अवस्था को सीमित करने के लिए सजग प्रयास किए गए थे। यह खुलेबाज़ार और अनियमित बाज़ार की छाप वाले उपनिवेशी युग से प्रस्थान था जो महानगरीय पूँजी का पक्षधर था। उद्देश्य क्या थे? उद्योगीकृत विश्व के बराबर आना और लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना। यह विश्वास किया गया था कि बाज़ार विन्यास की प्राथमिकता से अमीरों द्वारा अधिक खपत होगी तथा विकास के लिए निर्णायक क्षेत्रों में अवनिवेश होना। उसी समय यह भी कल्पना की गई थी कि कृषि अपचायक (diminishing) प्रतिफल के अध्यधीन थी अतः उद्योगीकरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिससे अधिकाधिक प्रतिफल और रोजगार अवसर प्राप्त हो सकें। इस प्रकार मुख्य निवेश थे : सार्वजनिक निवेश की अग्रणी भूमिका, आयात प्रतिस्थापन पर आधारित उद्योगीकरण, पूँजीगत वस्तु क्षेत्र पर जोर देना, निजी क्षेत्र में निवेश के मार्ग निर्देशन के लिए औद्योगिक लाइसेंस देना, कृषि की सापेक्ष अनदेखी करना, परम्परागत लघु और कुटीर उद्योगों के स्थान पर भारी उद्योगों पर अधिक जोर देना। बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निवेश ने भौतिक अवसंरचना की स्थापना की और अन्तर्वर्त्ती वस्तुओं के उद्योगों को स्थापित करने में सहायता की जिससे निजी क्षेत्र द्वारा प्रयुक्त निवेशों की लागत में कमी आई और निजी क्षेत्र द्वारा पैदा की गई वस्तुओं के लिए मांग में वृद्धि हुई। घरेलू पूँजीवादियों के लिए वर्तमान तथा भविष्य में माँग के रूप में बाज़ार की प्रत्याभूति देने वाले बाज़ार संरक्षणवाद के माध्यम से कार्यान्वित आयात प्रतिस्थापन से आयात प्रतिबंधों के परिणामस्वरूप आपूर्त्ति में वृद्धि हुई। राष्ट्रवाद और विकास के मूल सिद्धान्तों के आधार पर उपनिवेश विरोधी संघर्ष का नेतृत्व करने वाली इसकी गाथा के कारण, कांग्रेस और आज के शासन प्रधान दल के बीच एक राजनीतिक सामंजस्य था: उद्योगीकरण का तात्पर्य विकास से था और राष्ट्रीय हित लोगों के हित के साथ तालमेल में था। पुनर्वितरण को नीति के रूप में प्रोत्साहित नहीं किया गया था क्योंकि पुनर्वितरण गरीबी का एकमात्र ऐसा रूप था जिससे बचतों को हानि पहुँचती। विदेशी पूँजीवादी और जमींदारों को विकास की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से अलग कर दिया गया था। भूमि सुधारों को लागू नहीं किया जा सका क्योंकि स्थानीय विद्यमान राजनीतिज्ञ की लाठी के साथ गठजोड़ में निम्न स्तरीय नौकरशाही ने इस पर कार्रवाई की थी। कानून में स्पष्ट खामियों ने उच्च जाति के जमींदारों की भी सहायता नहीं की। निवल परिणाम यह था कि मालिक किसान बन गए। समुदाय विकास कार्यक्रम पंचायती व्यवस्था, सामाजिक कानून को लागू किया गया जिसमें शैक्षणिक संस्थानों और रोजगार में आरक्षण शामिल था। हमें विकास–योजना प्रतिदर्श जैसा इसे इस चरण के दौरान लागू किया गया था का मूल्यांकन करना चाहिए। प्रमुख अभिलाभ क्या थे? प्रथम, हम औद्योगिक और कृषिक दोनों संदर्भ में बड़े पैमाने पर किए गए उपायों की चर्चा कर सकते हैं। 1950–1964 में विनिर्माण उद्योग में गति आई उसके बाद 1970 के दशक तक यह गति धीमी पड़ गई और पुनः राज्य व्यय के विस्तार से नए सिरे से उद्योगों की बाढ़ आई। दूसरे, औद्योगिक उत्पादन ने महत्त्वपूर्ण विविधता को जन्म दिया क्योंकि पूँजीगत सामान क्षेत्रों में अन्य शिशु उद्योगों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे उत्पादन के स्तर

की कुछ प्राप्ति हुई। आरंभ में मात्र कपड़ा, चीनी और जूट वस्त्र उद्योग अस्तित्व में था। तीसरे, खाद्य उत्पादन में घरेलू स्वयं संतुष्टि प्राप्त हुई थी यद्यपि खाद्य खपत कम थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह एक प्रमुख उपलब्धि थी कि 1964–66 में अपेक्षित खाद्यान्न का 12 प्रतिशत आयात किया गया था। विकास–नियोजन प्रतिदर्श की प्रमुख समालोचना भूमि सुधारों की विफलता और उद्योग अर्थव्यवस्था में उच्च लागत में वृद्धि के संदर्भ में थी। निर्यात अनुमति पर आधारित आयात प्रतिस्थापना की रणनीति पर भी प्रश्न चिन्ह लग गया। तदोपरान्त एक जटिल और व्यर्थ व्यवस्था उभरकर सामने आई जिसमें संस्थागत तरीके से भ्रष्टाचार अन्तर्ग्रस्त था। इसके घटनाक्रम में सफलता के बावजूद हरित क्रान्ति की भी ऊर्जा प्रबलित न कि श्रम प्रबलित होने के कारण समालोचना की गई। तत्पश्चात् सूखी भूमि पर खेती को नजरन्दाज कर दिया गया। आार्थिक शब्दों में शहरी–ग्रामीण विभाजन बड़े पैमाने पर सरकारी खर्चे के बावजूद अंकित हुआ। वर्ग संदर्भ में, स्वामित्व वर्गों नामतः औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग, भूमि के स्वामित्व वाला वर्ग, और नौकरशाही वर्ग से मिलकर बने एक 'प्रमुख गठबंधन' ने जैसा कि अन्य के साथ प्रणव पर्दन और सुदीप्ता कविराज ने तर्क दिया था, समाजवाद के तहत 'विकास' नीतियों से सर्वाधिक लाभ उठाया गया जैसे अमीर किसानों और औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग दोनों को आर्थिक सहायता की मंजूरी। बीमार औद्योगिक इकाइयों के लिए सरकारें अस्पताल बन गईं क्योंकि कामगार वर्ग को सहायता पहुँचाने के नाम पर राष्ट्रीयकरण आरंभ हुआ। लोक क्षेत्रों में 'बौद्धिक पूँजी' वाले पेशेवर लोगों ने संस्थागत भ्रष्टाचार से लाभ उठाया क्योंकि राज्य ने आर्थिक रणक्षेत्र में नियामक भूमिका अदा की। तथापि, सभी प्रकार की सादगी में भारतीय राज्य की तरफ से राजनीतिक प्रक्रिया वाली अनिवार्यताओं के साथ आर्थिक नीतियों का समाधान करने के लिए हमेशा एक सजग प्रयास रहा ताकि अर्थशास्त्र और राजनीति की अन्तक्रिया में संघर्ष को न्यूनतम रखा जा सके। समायोजन की राजनीति का अनुसरण किया गया। प्रतिस्थापन में कल्याणकारी नीतियाँ थीं कि मुनाफे की सहभागिता जो एजेंडा में थी उस उद्देश्य के रूप में प्रमाणित थी जिससे गरीबी उन्मूलन और संसाधन का समान आबंटन के दुहरे उद्देश्य पर आधारित समाज का समाजवादी प्रतिदर्श प्राप्त हो सके। औद्योगिक पूँजीवाद के लिए आहवान हमेशा राजनीतिक लोकतत्र की पूर्णरूपेण लयबंदी से जुड़ा रहा। समाजवादी संदर्भ में, युद्ध के बाद पश्चिमी उदारवादी आधुनिकीकरण/राजनीतिक विकास सिद्धांत के अत्यधिक प्रभाव में यह सोचा गया था कि आधुनिकीकरण से भाषाई विषमताएँ कम होंगी। धर्मनिरपेक्षता धार्मिक पहचानों के साथ समाप्त हो जाएगी तथा स्वीकारात्मक कार्रवाई से जाति निस्तेज हो जाएगी। कुल मिलाकर, कल्याणकारी नीतियों ने भी राष्ट्र निर्माण के एकरूप एजेंडा में योगदान किया था। इस प्रकार, भारत में, सामाजिक लोकतंत्र का आदर्श तथा ग़ैर–पूँजीवादी विकास पथ के साथ–साथ कल्याणकारी राज्य निष्पाद्य प्रतीत हुआ।

भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास

लोकतंत्र और विकास के स्वरूप के बारे में उपरोक्त सामंजस्य भंग कर दिया गया था क्योंकि लोकतंत्र की राजनीति और कल्याणकारी अर्थशास्त्र के बीच अन्तर्क्रियाओं में गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। सामाजिक समूह जो समाज के सीमान्त पर थे और निष्क्रिय पड़े हुए थे, राजनीतिक स्तर मिलते ही शक्ति सम्पन्न हो गए। अब उन्होंने ऐसे राज्य पर आर्थिक दावे करने आरम्भ कर दिए जिसने भारतीय लोकतंत्र की राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच सफलतापूर्वक मध्यस्थता की थी। भारतीय राज्य की तरफ से मध्यस्थता और समाधान की भावी प्रक्रिया के दीर्घकालिक आर्थिक और राजनीतिक परिणाम थे। वादे और उम्मीदों को पूरा न किए जाने के कारण मतभेदी स्वर उभरने लगे क्योंकि गरीबी के स्तर में वृद्धि हुई थी। 1960 वें दशक के मध्य में अर्थ व्यवस्था में संकट खाद्य संकट के रूप में स्पष्ट था क्योंकि भारत के पास सब कुछ होते हुए भी उसे खाने के लाले पड़े थे। रुपए के अवमूल्यन से नियोजन तीन वर्ष के लिए निलम्बित करना पड़ा क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र और बचत तथा निवेश इससे प्रभावित हुए थे। सामंजस्य इसलिए भी तोड़ दिया गया था क्योंकि राजनीतिक नेतृत्व की दूसरी पीढ़ी जो कामराज योजना के परिणामस्वरूप उभरी थी, राष्ट्रवादी नेतृत्व की वैधता, स्वीकृति और चमत्कार से वंचित थी। भारतीय राजनीति का क्षेत्रीकरण और देहातीकरण हुआ क्योंकि कांग्रेस वर्चस्व वाला दल नहीं रहा और उसका संगठनात्मक और वैचारिक दोनों अर्थों में पतन हुआ। योगेन्द्र यादव के शब्दों में, राजनीति के मैदान में मौलिक रूपान्तरण के रूप में 'द्वितीय लोकतांत्रिक उत्थान' हुआ जो बदले में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में लंगर डाले हुए है। यह रूपान्तरण मतदाताओं के आकार, संयोजन और स्वनिर्णय में परिवर्तन का उत्पाद था क्योंकि समाज के निम्नतर वर्गों से अधिकाधिक नागरिकों ने अपने लोकतांत्रिक अधिकारों को ज़ोरदार बनाते हुए और उनका दावा करते हुए चुनावी राजनीति में भाग लिया। जाति प्रधान समृद्ध किसान वर्ग जैसे जाट, कम्मा, कापू, यादव और रेड्डी, का अर्द्धसंघीय जमींदारों के पतन के मुकाबले उत्थान भी हुआ। इन जातियों ने विरोधी दलों में शामिल होने अथवा विरोधी दल बनाने के लिए कांग्रेस को उजाड़ दिया। समृद्ध किसान वर्ग के नए प्रविष्ट वर्ग ने आर्थिक नीतियों से व्युत्पन्न लाभों में अपने उचित शेयर तथा राजनीतिक प्रक्रिया में उर्ध्वमुखी गतिशीलता की मांग की। राज्य की प्रतिक्रिया हरित क्रान्ति के रूप में कृषि पर सशक्त, नए सिरे से जोर देने के रूप में थी। इस प्रकार खाद्य सुरक्षा प्राप्त करने के लिए 'मजबूत पर दाब लगाओ' नीति को अपनाया गया। इस नीति के तहत बेहतर स्थिति वाले किसानों और क्षेत्रों को व्यापक समर्थन मिला। यद्यपि भूमि सुधार उपायों जिन्हें केरल, पश्चिम, बंगाल, महाराष्ट्र और जम्मू व कश्मीर जैसे राज्यों के महत्त्वपूर्ण अपवाद के साथ आंशिक सफलता मिली थी, पर आगे कार्यवाही नहीं की गई, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम जैसे DPAP, SWARKA आरंभ किए गए।

गंभीर कार्यक्रम संबंधी प्रयास न होने की स्थिति में इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने नारेबाजी बैंको के राष्ट्रीयकरण, शाही भत्ते की समाप्ति के रूप में अधिकाधिक जनाधिकारवादी भाषणबाजी की शरण ली। शासक कांग्रेस के 'हाईकमान' द्वारा विभाजन और शासन की रणनीति के तहत कांग्रेस में धार्मिक विसम्मति और क्षेत्रवाद पैदा किया गया। समृद्ध किसान वर्ग प्रबल गंठबंधन के साथ जुड़ गया क्योंकि प्रथम चरण के दौरान प्रतिनिधिक लोकतंत्र के अधीन बहुसंख्यक बाद ने प्राधिकारवाद का मार्ग प्रशस्त किया यह आपत्काल के दौरान चरम सीमा पर था जिसने अपने क्रियाविधिक और स्थायी रूप में लोकतंत्र की समग्र विफलता दर्ज की। वर्ग संदर्भ में आपत्काल के अधिरोपण को भी प्रबल गठबंधन में सहचारिता की कमी के रूप में समझाया जा सकता है क्योंकि भूमिधर अमीर किसान वर्ग बड़े पैमाने पर आर्थिक रूप से मजबूत तथा संख्या में शक्तिशाली होकर उभरा। राजनीतिक लोकतंत्र ने शासक गठबंधन के स्थामित्व के लिए संस्थागत तरीका उपलब्ध कराया; संस्थागत यंत्रवत् क्रियाविधि का आपात्काल में अभाव रहा। तथापि, जनता दल की विजय ने मात्र भारतीय मतदाता की न्यायप्रियता दूरदर्शिता को ही प्रतिबिम्बित नहीं किया अपितु अन्ततः यह भी सिद्ध कर दिया कि भारतीय जनता की राजनीतिक कल्पना में लोकतांत्रिक भावना का वास था।

जनता दल शासन की विफलता ने वैचारिक एकता और उद्देश्य से शून्य गठबंधन राजनीति की सीमाओं को दर्शाया। अधिक विशुद्ध तथा असुरक्षित इन्दिरा गांधी की वापसी ने भी लोकप्रियता और मतदाता की कृपा की राजनीति की वापसी को महसूस किया। आर्थिक सहायता के प्रफलन की बड़े पैमाने पर राज्य के व्यय तथा राजस्व की हानि, आसान ऋण, ऋण माफी, बीमार फर्मों को राष्ट्रीयकृत करने, औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग को सस्ते निवेश मुहैया कराने में परिणिति हुई। संक्षिप्त में, इन्दिरा गांधी तथा बाद में राजीव गांधी की अपनी नीतियों का एक जैसा शासन था। राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण, नामांकन की राजनीति, राजतंत्र का बाज़ारीकरण—ये सब 1980 से 1990 के बीच की अवधि के विशिष्ट लक्षण बने रहे। रोजगार उन्मुख कार्यक्रमों जैसे ;त्स्म्ळच्ए छत्म्च और प्त्क्व्द्ध के तहत बड़े पैमाने पर निधियों का आवंटन किया गया। दीपक नयर की सारगर्भित टिप्पणी है, नेहरू वाले भारत से भिन्न अब अर्थशास्त्र और लोकतांत्रिक राजनीति के बीच मुश्किल से ही कोई अन्तक्रिया हुई हो। धनबल और जनबल मतदाता ठेकदारों के वर्चस्व में मतदाता रणभूमि में पहुँच गया था जैसा कि रजनी कोठारी ने कहा था। जिनके पास धन था वे ही चुनावी संघर्ष में जी पाए, क्योंकि सूटकेस राजनीति उस समय की व्यवस्था बन गई थी। जाति, प्रजाति और धर्म की भूमिका अब अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई थी क्योंकि उपनिवेशी गाथा के क्रम में पहचान राजनीति ने अपना दावा ठोक दिया था। उपनिवेशी राज्य पहला ऐसा राज्य था जिसने विभिन्न जाति और समुदायों को मान्यता दी तथा पृथक निर्वाचन मंडल की शुरुआत की।

भारत में राजनीतिक लोकतंत्र और आर्थिक विकास 1990 के दशक में और उससे आगे

1991 से पूर्व भारत विकास की अपनी रणनीति और अपने लोकतंत्र के स्वरूप को विकसित करने में एक रूपता की ग़ैर मौजूदगी का साक्षी रहा है। नेहरू के राजनीतिक नेतृत्व की दीर्घकालिक सोच का स्थान अल्पकालिक रणनीतियों ने ले लिया था जैसा कि उदारीकरण की नई आर्थिक नीतियों का अपनाया जाना और अधिकृत करने की उद्गामी राजनीति अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र दो विपरीत दिशाओं में ले जाते प्रतीत होते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संघर्ष समाधान के लिए मध्यस्थता करने में भारतीय राज्य की अनिच्छा है। इस मोड़ पर एक अल्प आर्थिक संकट जब दशकों की गरीबी के बाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रतिदर्श अक्षुण्ण बना रहा, के तुरन्त बाद विकास नियोजन प्रतिदर्श से आर्थिक उदारीकरण प्रतिदर्श को पूर्ण युगान्तरण के कारणों पर चर्चा करना सुसंगत होगा। और तब, नरसिंहाराव की अल्पमत सरकार किस प्रकार दूरगामी नीति में परिवर्तन कर पाई जब कि उससे पहले पूर्ण बहुमत वाली राजीव गाँधी की कांग्रेसी शासन जैसी पूर्ववर्त्ती सरकारें स्पष्ट इच्छा के बावजूद वैसा करने में अक्षम रहीं। इसका संभव उत्तर संकट प्रबंधन की तत्काल आर्थिक बाध्यता के रूप में हो सकता है। राजनीतिक अर्थशास्त्रियों जैसे जयति घोष, प्रणव वर्द्धन, अमित भादुड़ी, और दीपक अय्यर ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय संघटकों के संयोजन का हवाला दिया है जो स्पष्ट करता है कि युगान्तर संकट—प्रेरित था तथा यह आर्थिक नीतियों में रणनीति—प्रेरित परिवर्तन नहीं था। इन घटकों में भूतपूर्व सोवियत यूनियन तथा पूर्वी यूरोपियन देशों जो भारत के सबसे बड़े व्यापारिक भागीदार थे, में साम्यवादी राज्य शामिल थे। विदेशी ऋण संकट पैदा हुआ क्योंकि राजीव गांधी सरकार द्वारा लिए गए अल्पकालिक ऋण निर्यात के लिए पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र की विफलता के कारण, वापस नहीं किया जा सके। खाड़ी युद्ध के परिणामस्वरूप तेल की कीमतों में वृद्धि होने से खाड़ी के प्रवासियों से सम्प्रेषण कम हो गए। अप्रवासी भारतीयों द्वारा विनिमय बाज़ार से अपनी पूँजी हटा ली गई क्योंकि उन्होंने मंडल और मंदिर विवाद के परिणामस्वरूप भारतीय राज्य में सामाजिक और राजनीतिक सजीवता में विश्वास खो दिया था। मध्य वर्ग के उत्थान से उपभोक्तावाद में वृद्धि, रक्षा आयात में वृद्धि, अपर्याप्त संसाधन गतिशीलता, जनअधिकारवाद के प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति तत्काल घटकों में से कुछ घटक थे। और तब राजीव गांधी सरकार की उदारवादी नीतियों के तहत प्रगामी तौर पर प्रत्यक्ष करों में कमी की गई जबकि अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि नहीं की जा सकी।

अन्तरराष्ट्रीय घटकों में अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक संस्थानों जैसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा निधि और विश्व बैंक द्वारा उपरोक्त अधिरोपित प्रतिबन्ध शामिल थे। दक्षिण एशियाई देशों की सफल कहानी के साथ लैटिन अमेरिकी और उप—सहारा अफ्रीकी देश भी अच्छे शासन' के राजीव प्रतिदर्श के रूप में नये—उदारवाद के आने के प्रभाव में आड़े आए। यह तर्क दिया गया था कि आर्थिक विकास और आर्थिक दक्षता राज्य की भूमिका में कमी करके प्राप्त किये जा सकते थे। वित्तीय अनुशासन, विदेशी पूँजी तक पहुँच तथा विदेशी प्रौद्योगिकी अन्य घटक थे जिसके कारण राज्य के नेतृत्व वाला पूँजीवाद बाज़ार प्रेरित

पूँजीवाद में रूपान्तरित हो गया। क्या भारत में आर्थिक सुधारों का कोई भविष्य है? भारत में लोकतंत्र और विकास लिए इसके क्या प्रभाव है? यह सुस्पष्ट है कि बार–बार होने वाले चुनावों के विद्यमान गठबंधन युग में राजनीतिक अस्थिरता से अल्पकालिक हित प्रेरित राजनीति के प्रचलन में होने का पता चलता है। अर्थव्यवस्था की स्थिरता के लिए कठोर उपाय करने तथा चुनावों में प्रतिकूल निर्वाचन क्षेत्र अंग में चुनाव जीतने वाले लोकप्रिय समर्थन का जोखिम लेने की बजाए जनाधिकारवादी उपायों का बने रहना विशेष रूप से राज्य स्तर पर नीति निर्माण में प्रबल घटक बन चुके हैं क्योंकि एक मुख्य मंत्री का औसत कार्यकाल 3 वर्ष से कम है। इस प्रकार शुरुआती दौर का दीर्घकालिक पहलू मौजूद नहीं है। लोकतांत्रिक राजनीति के अनुसार भी सामंजस्य समाप्त हो चुका है। भ्रष्ट और अक्षम राज्य स्तर की नौकरशाही सुधारों को लागू करने में अक्षम बनी रहती है। संरक्षण, भ्रष्टाचार और भाई–भतीजा वाद निरन्तर जारी है। निवेश का स्वरूप चाहे विदेशी हो अथवा घरेलू संदेह हुआ बना रहता है क्योंकि अधिकांश निवेश उपभोक्ता क्षेत्र में है और प्राथमिक अथवा पूँजीगत माल क्षेत्रों में नहीं है। अधिकांश निवेश जैसा कि प्रभात पटनायक ने तर्क दिया है, तुरन्त प्रतिफल की चाह वाले 'गर्मधन' के रूप में है। गंभीर राज्य–गरीब राज्य लक्षण भी भारतीय संघीय लोकतंत्र के लिए चुनौती प्रस्तुत कर रहा है क्योंकि अमीर राज्य, अपनी विकसित आर्थिक अवसंरचना के कारण चुम्बकों की तरह कार्य कर रहे हैं जबकि गरीब राज्यों से केन्द्रीय सहायता के बिना स्वंय सहायता के लिए कहा जा रहा है। क्षेत्रवाद उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद की उपशाखा के रूप में उत्थान पर है जिससे क्षेत्रीय असंतुलन बढ़ रहा है। आरंभ में राज्यों के पुनर्गठन का आधार प्रजातीय–सांस्कृतिक पहचान थी परन्तु अधिक विकास और लोकतंत्रीकरण की आवश्यकता प्रथक राज्य के लिए मांग का आधार बन रही है जैसा कि उत्तराचंल, छत्तीसगढ़ और झारखंड के सृजन के लिए आन्दोलनों के मामले में था। भाषाई समुदाय भी समूहगान में शामिल हो रहे हैं जैसा कि उत्तर प्रदेश में बुन्देलखंड और रूहेलखंड के लिए मांग के मामले में हुआ था। नई आर्थिक व्यवस्था में, इन मांगों का संवेग बढ़ने की संभावना है।

सामाजिक क्षेत्र से राज्य की वापसी गरीब जनता पर निशाना साध रही है क्योंकि कल्याणवाद की सम्पूर्ण धारणा पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। वित्तीय अनुशासन के नाम पर रोजगार स्वास्थ्य और शिक्षा के प्राथमिक क्षेत्रों में राज्य का निवेश डगमगा रहा है। माँग आपूर्त्ति और अधिकतम लाभ वाले बाज़ार नियमों से प्रेरित नई आर्थिक नीतियाँ मुश्किल से विशेषतया अनौपचारिक क्षेत्र में नियोजित श्रम बल से सम्बद्ध हैं। प्रतिस्पर्धात्मक संघीय राज्य भी श्रमिक अधिकारों की अनदेखी करते दिखाई देते हैं क्योंकि वे निजी निवेश की तलाश में रहते हैं। आर्थिक सुधारों की राजनीतिक सफलता के लिए अन्य चुनौतियां हैं। गान्धीवादी मूल्यों जो आज भी जन समुदाय पर प्रभाव रखता हैं, का बाज़ार अर्थव्यवस्था के मुकाबले विरोध किया जाता है क्योंकि वे व्यष्टिगत हितों की बजाए समूहों के हितों पर जोर देते हैं। नए राजनीतिक प्रतिष्ठान द्वारा आर्थिक सुधारों का विरोध, जन अधिकारवादी राजनीति से हटकर नीति निर्माण करने में विफलता, केन्द्र–राज्य के संघर्षपूर्ण सम्बन्ध, राज्यों के बीच प्रतिद्विन्द्वता अन्य बाधाएँ हैं। इस प्रकार उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं के आधार पर विकास की विद्यमान नई उदारवादी परियोजना पर स्थायी विकास की रणनीति तथा नए सामाजिक आन्दोलनों के उन वकीलों द्वारा प्रश्न चिन्ह बना दिया गया है जो बहुमत का गठन करने वाले अन्य लोगों की कीमत पर कुछ सामाजिक समूहों की समृद्धि की औचित्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाते रहते हैं।

सारांश

भारत में लोकतंत्र निर्माण के काम को स्थायी रूप दिया। विविधताओं की मान्यता और उनकी चिन्ताओं का समायोजन राष्ट्र निर्माण की संवैधानिक परियोजना के विशिष्ट पहचान थे जिनमें विकास प्राप्त करने का मेहराबदार उद्देश्य अन्तर्ग्रस्त था। तथापि, भारतीय लोकतंत्र के समक्ष चुनौतियां अभी भी दुर्जेय हैं। जाति और धर्म की पहचान से लोकतांत्रिक विचार का रुझान अपने निजी प्रयोजनार्थ होने लगा है। भारतीय लोकतंत्र का सामाजिक एजेण्डा आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के कारण कमजोर होता है, अत्यधिक न्यायवादी साम्प्रदायिक बलों से भारतीय लोकतंत्र के बहुवादी स्वरूप की चुनौती प्रबलरूप से बहुसंख्यकवादी अर्थों में लोकतंत्र को पुनः परिभाषित करने की मांग के रूप में सामने आ रही है। मानव अधिकारों, लिंग अधिकारों, पिछड़े वर्ग और अल्पसंख्यक अधिकारों, पर्यावरण से सम्बन्धित मुद्दों को उठाने वाले नये सामाजिक आन्दोलनों के उफान के रहते हुए भारत में असैनिक समाज अधिकाधिक गहन संघर्ष का नजारा बन रहा है जिसमें सामाजिक समूह अन्तर्ग्रस्त हैं। अल्पसंख्यक समुदायों के लिए सांस्कृतिक अधिकारों के प्रति लौहसदृश वचनबद्धता, लैंगिक न्याय के सिद्धान्त और समान नागरिकता संवैधानिक रूप से अभिनिश्चित अधिकारों के आड़े आ रही है जैसा कि समान सिविल संहिता के ऊपर गर्मागर्म बहस से प्रकट होता है चुनावी राजनीति से वास्तव में पहचानें बनी हैं जिससे वे शक्ति सम्पन्न हुई है परन्तु तब प्रक्रिया प्रतिस्पर्धा के मुकाबले अधिक संघर्षमय हो गई है। इसीलिए राजनीति में आने वाले नये लोग स्वयं को उदारवादी व्यष्टियों की तुलना में समूहों और समुदायों का सदस्य मानते हैं। जहाँ तक लोकतंत्र और विकास के बीच अन्तरपृष्ठ का सम्बन्ध है अधिक समान समाज के सृजन की चुनौती दुर्जेय रहती है क्योंकि आर्थिक विषमताएं भूमंडलीकरण के युग में बढ़ती जा रही हैं।

संदर्भ

[1] रशीद्उद्दीन खान, भारत में लोकतंत्र,एन0सी0ई0आर0टी0, नई दिल्ली पृष्ठ 118।
[2] डेविड बीथम, केविन बॉयले, लोकतंत्र, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1996, पृष्ट–68।
[3] वल्लभशरण, नई पंचायती राज व्यवस्था। –संवैधानिक संशोधन और राज्य, इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, नई दिल्ली,

1966. पृष्ठ–13,14।
[4] हृग टिंकर, दी फाउन्डेसन्सा ऑफ लोकल गर्वनमेन्ट इन इंडिया पाकिस्तान एण्ड वर्मा, लालवानी पब्लिशिंग हाउस मुम्बई–1 967. पृष्ठ –19।
[5] रजनी कोठारी, राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003.पृष्ठ–106।
[6] महीपाल, पंचायती राज चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1996. पृष्ठ–12।